INNOVATIVE RESEARCH THOUGHTS | Refereed | Peer Reviewed | Indexed
ISSN : 2454 – 308X | Volume : 04 , Issue : 03 | January – March 2018

व्यंग्य का मनोवैज्ञानिक संदर्भ : मधुसूदन पाटिल

रिम्पी रानी, विद्या वाचश्पत्ति (हिन्दी)
क्षेत्रीय केन्द्र धारवाड़, कर्नाटक
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

भूमिका – मनोविज्ञान एक ऐसा विज्ञान है जो मानव के व्यवहार तथा मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। वह मानव के अन्दर के मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रियाओं, जैसे– चिन्तन, भाव आदि का वातावरण की घटनाओं के साथ सम्बंध जोड़कर अध्ययन करता है। इस परिप्रेक्ष्य में व्यवहार एवं मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन के विज्ञान को मनोविज्ञान कहा गया है। व्यवहार के अन्तर्गत मानव व्यवहार तथा पशु व्यवहार दोंनो ही सम्मिलित होते हैं। मानसिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत चिन्तन, भाव, संवेग एवं अन्य प्रकार की अनुभूतियों का अध्ययन सम्मिलित होता है।

व्यंग्य की प्रभावान्विति का मनोविज्ञान से स्पष्टतः सम्बंध है। मानस–परिवर्तन व्यंग्य की अर्थवत्ता है। आधुनिक युग में व्यंग्य एक सशक्त सम्प्रेषण माध्यम के रुप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है।

आधुनिक मानव–जगत संक्रमण–काल से गुजर रहा है। विभिन्न सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं मानसिक बंधनों में जकड़ी मानव, अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति हेतु, मानव व्यंग्य को एक प्रभावशाली एवं शिष्ट माध्यम के रूप में चुनता है। व्यंग्यकार व्यक्तिगत जीवन में भी पीड़ित होता है और सार्वजनिक जीवन में भी। अन्याय और अत्याचार के झंझावत विवेकशील व्यक्ति की चेतना को झकझोर देते हैं। जीवन की विसंगतियाँ, नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान व्यक्ति के मन में आक्रोश को जन्म देती है। इस आक्रोश की संयमपूर्ण एवं बौद्धिक अभिव्यक्ति व्यंग्य के माध्यम से होती है। वैयक्तिक स्तर पर व्यंग्यकार जिन अवस्थाओं को अपने अनुकूल पाता है, उनके प्रति व उनके लिए उत्तरदायी लोगों के प्रति, उसकी अभिव्यंजना तीखी हो जाती है।

चूकिं व्यंग्यकार उदात्व–जीवन दृष्टि से सम्पन्न होता है अतः उसका व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक जीवन से अविभाज्य अंग के रूप में सम्बंध होता है। व्यंग्यकार का आक्रोश, मात्र उसी का आक्रोश न होकर जन–जन की व्यथा से प्रेरित होता है। जीवन की विडम्बनाएं उसे व्यंग्य को बाध्य करती है। ''सामाजिक विद्रूप के प्रति यदि कोई प्रतिक्रिया व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त न की जा सकी, तो शायद यही विकल्प रह जाएगा कि एग्रीमैन जेल खाने और पागलखाने के बीच घूमता रह जाएगा।[1]

मनुष्य अपने आन्तरिक पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए विनोद का सहारा लेता है। इससे उसे गम्भीर और बोझिल क्षणों से राहत मिलती है। यह विनोद परिहासात्मक ढंग से होता है जिससे गम को गलत किया जाता है और जो प्रफुल्लता या आनन्द का अनुभव कराता है। जब मनुष्य इच्छा के विपरीत विषमताओं और विसंगतियों से अकेले जूझने में अपने को असमर्थ पाता है, जब इच्छा के खिलाफ उसे समझौता करना पड़ता है, जब उसके अहम् को ठेस पहुँचती है, तब वह प्रहारात्मक वाणी से व्यंग्य करता है। विसंगतियों के विरोध में कुछ न कर सकने की स्थिति से

उत्पन्न 'हीन भावना' का प्रतिकार व्यंग्योक्ति के माध्यम से कर मनुष्य अपने अन्तर्द्वन्द्व अपने तनाव से मुक्ति पा लेता है। व्यग्योक्ति प्रहार से वह विजय की स्थिति का आनन्द प्राप्त करता है।

फ्रायड के मतानुसार अन्तर्द्वन्द्व ही व्यक्ति में संघर्ष की शक्ति को जन्म देता है जिससे अहम एवं परम् अहम से सम्बंधित गुणों का विकास होता है। अन्तर्द्वन्द्व दो विरोधी इच्छाओं के एक दूसरे की तृप्ति के मार्ग में बाधा डालने की स्थिति को कहा जाता है। "Conflict means a situation in which two wishes are so incompatible that the fulfilment of one would preclude the fulfilment of the other."[2]

समाज में व्याप्त विसंगति और अन्तर्विरोध को देखकर जब प्रबुद्ध व्यक्ति उसका परिष्कार कर सकने में असमर्थ पाता है तो उसे निराशा होती है। निराशा की प्रतिक्रिया 'हीनता' की भावना उत्पन्न करती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'एल्डर' ने इस 'हीन भावना' को जीवन में महत्वपूर्ण माना है। इसी के कारण व्यक्ति के मन में प्रेरणा का जन्म होता है। फलस्वरूप वह अन्य किसी माध्यम से इसकी पूर्ति करने का प्रयास करता है। इसी बात को सुप्रसिद्ध, व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई इन शब्दों में बताते हैं– मैं व्यंग्य क्यों लिखता हूँ, इसका कोई सीधा उतर मेरे पास नहीं है। शायद इसलिए कि 'मैं' सहन नहीं कर सकता। व्यंग्य लिखना मेरे लिए निरन्तर लड़ते रहना है। उन सबसे लड़ना जो जिन्दगी को कुरुप बनाते हैं।[3]

गोपाल प्रसाद व्यास हरिशंकर परसाई को ही विस्तार में दुहराते हुए कहते हैं ''क्यों मुझे कहना पड़ेगा कि देश में अभाव और भुखमरी है। समाज में विषमता और भ्रष्टाचार है, राजनीति में अनीति और लोलुपता है, साहित्य में हित का भाव नहीं रहा, कला अकला–चकला का पर्याय हो गई तथा संस्कृति मात्र विकृति रह गई। कुत्ते को बोटी है पर आदमी को रोटी नहीं, सुख शान्ति नहीं और आप पूछते हैं कि मैं व्यंग्य क्यों लिखता हूँ? व्यंग्य न लिखूँ'' तो क्या लिखूँ? क्रान्ति करने के लिए (बुढ़ापे में) जवानी कहाँ से लाऊँ?''[4]

उपरोक्त बातों से हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है– ''क्या व्यंग्य अनास्थावादी निराशापूर्ण लेखन है?'' इसी प्रश्न को साक्षात्कार के समय प्रख्यात व्यंग्यकार डॉ. शंकर पुणताम्बेकर के सामने रखा तो उन्होंने जो जवाब दिया वह इस तरह है– ''व्यंग्य को नकारात्मक लेखन तो कहा जा सकता है, पर अनास्थावादी नहीं। व्यंग्य विडम्बना, विरुपता को नकारता है उसका निषेध करता है। भ्रष्ट, विकृत त्याज्य को अस्वीकार करने वाला, उस पर चोट करने वाला व्यंग्य लेखन अनास्थावादी कैसे हो सकता है? अनास्थावादी तो समाज के अच्छे–बुरे सभी को नकारता है जबकि व्यंग्यकार केवल बुरे को। अनास्थावादी की चोट घातक होती है जबकि व्यंग्यकार की चोट विचार प्रवर्तक।[5]

इस तरह सामाजिक चुनौतियों का सामना करने के लिए जब प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार 'व्यंग्य' का एक शस्त्र के रूप में प्रयोग करता है तो व्यंग्य उसके लिए नास्ति में आस्ति का भाव बन जाता है।

इसमें कोई शक नहीं कि आत्महीनता, क्रोध, आक्रोश सिनिक, छिद्रान्वेषी, निराशावादी तथा व्यर्थ ही किसी की बखिया उधेड़ने वाला व्यक्ति नहीं होता। न ही व्यंग्य किसी सिनिक या छिद्रान्वेषी की अकल से निकला हुआ कोई कसीदा या बेलबूटा है, जो क्षण भर के लिए आकर्षित

कर रह जाता है। व्यंग्य का प्रभाव व्यक्ति के अन्तरतम की गहराई तक मर्म को छेदकर उसे सालता रहता है। व्यंग्यकार अपनी प्रखर विवकेयुक्त बुद्धिमता से विसंगत स्थितियों पर प्रहार करता है। यह सही है कि 'व्यंग्यकार' समाज की चुनौतियों को खुलेआम स्वीकार कर प्रत्यक्ष जीवन में नहीं जूझ पाता। ऐसा व्यक्ति तो समाज सेवक हो सकता है, व्यंग्यकार नहीं।

एक विचारशील व्यक्ति के लिए मानव–मूल्यों की उठापटक और स्वार्थों की अंधी दौड़ में कुचली जा रही नैतिकता की कराह से आकुल न होना असम्भव है। प्रख्यात अंग्रेजी व्यंग्यकार जुवेनल ने अपने लेखन का कारण बताते हुए लिखा है कि ''छलकपट और भ्रष्टाचार रोमी जीवन में इतने अधिक व्यापक हो गए है कि एक ईमानदार व्यक्ति के लिए व्यंग्य न लिखना असंभव है।[6]

व्यक्ति व्यंग्य क्यों करता है? आखिर कौन–सी ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जो किसी रचनाकार को व्यंग्य के क्षेत्र में धकेल देती हैं। इसका उत्तर देना एकदम सहज व सरल नहीं है। भिन्न–भिन्न रचनाकार अलग–अलग परिस्थितियों से बाध्य होकर सृजन में प्रवृत होते हैं। कुछ लोग हीन भावना से ग्रस्त होकर लिखते हैं तो कुछ लोग श्रेष्ठता की भावना से ग्रस्त होते हैं। एक दूसरी बात जो इससे जुड़ी हुई है और अलग भी है। किसी का जीवन–दर्शन भी व्यंग्य लेखन को प्रभावित कर सकता है। मनोवैज्ञानिकों की राय है कि 'व्यक्तिगत घृणा' से कई साहित्यकर्मी व्यंग्य लेखन से प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि व्यंग्यकार इसे प्रकट रूप से अस्वीकार करते हैं और बतलाते हैं कि हम जनहित की भावना से लिखते हैं, पर वास्तविकता है वे हीनभावना, सामाजिक अन्याय से पीड़ित होने के बोध या किसी सुविधाभोगी समूह से दूर रखे जाने की पीड़ा आदि व्यक्तिगत कारणों से व्यंग्य का सहारा लेने के लिए विवश हो जाते हैं। व्यंग्य का इतिहास देखने से हम पाते हैं कि प्रसिद्ध व्यंग्यकार विआन के पिता एक दास थे।

कुछ ऐसे व्यंग्यकार भी हुए हैं जिनका जीवन बड़ा सुखमय था और जिनमें काफी जिन्दादिली थी। अपने बड़प्पनबोध की वजह से इन लेखकों में अन्य साधारण व्यक्तियों के प्रति तुच्छता की भावना थी। वे समझते थे कि इनके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति गरीब, हास्यास्पद, कुरूप और हीन हैं।

किसी व्यक्ति का जीवन दर्शन जैसा होता है उसका प्रभाव भी रचना पर पड़ता है। ''व्यक्ति विशेष के उस बोध को, जो उस जीवन को देखकर और जीकर प्राप्त होता है अथवा उसका भावी जीवन जीने की कल्पना को एवम् जैसा जीवन उसको जीना पड़ता है, उसके सम्बन्ध में बने उसके पूर्वाग्रहों को उसकी जीवन दृष्टि की संज्ञा दी जा सकती है।[7]

जीवन दर्शन से अभिप्राय है – किसी व्यक्ति का जीवन को देखने का ढंग क्या है या वह जीवन को क्या समझता है? प्राचीन विचारधारा के लोग जहां परम्पराओं से चिपके रहना चाहते हैं तो आधुनिक विचारधारा के लोग परम्परा से केवल वे ही बातें स्वीकार करते हैं जो उनके आधुनिक जीवन के संदर्भ में उपयुक्त है, उपयोगी है। अतः स्वाभाविक तौर पर प्राचीन आदर्शों पर चलने वाला आधुनिकता को चुनौती देगा, ठीक उसी प्रकार आधुनिक विचारधारा का व्यक्ति निरर्थक हो गए प्राचीन को विसंगतियां मान लेगा। यह मानव का स्वभाव है कि जो उसके अनुकूल है वह उसका समर्थन करेगा और जो उसके प्रतिकूल है उसका विरोध करेगा। सादा जीवन को जीने का आदर्श मानने वाले के लिए सामन्ती वैभवपूर्ण जीवन तथा फैशनपरस्त जीवन

व्यंग्य का कारण बनेगा। जैसे संत कबीर के अनुसार पुस्तके पढ़–पढ़कर प्राप्त किया गया ज्ञान केवल कोरा किताबी ज्ञान है। इसी से वे कोरे ज्ञानियों पर व्यंग्य करते हैं और प्रेम के ढाई आखर पढ़ने वाले को पंडित बताते है– ''पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढै सो पंडित होय।''[8] अमीर गरीब पर छींटाकशी करता है तो गरीब अमीर पर, जैसे निराला की कुकुरमुत्ता कविता में देखा जा सकता है। वस्तुतः युक्तियुक्त स्पष्ट एवं प्रबुद्ध जीवन दृष्टि के अभाव में कोई श्रेष्ठ जीवन के अभाव में, कोई श्रेष्ठ, सार्वजनिक और कल्याणकारी व्यंग्य नही लिख सकता। ... एकाकी, दुराग्रही और अनुदात्त दृष्टि रखकर कोई व्यंग्यकार श्रेष्ठ और सच्चा व्यंग्य नही दे सकता।''[9]

हर लेखन का कोई–न–कोई प्रेरणा स्त्रोत होता है। उसी से प्रेरित होकर वह लिखता है। यह प्रेरणा जितनी बलवती होती है रचना उतनी ही उत्कृष्ट होती है। डॉ0 मधुसूदन पाटिल ने व्याख्या भी लिखी है।[10] समीक्षा भी लिखी है।[11] शोध प्रबन्ध भी लिखा है [12] और उक्त सभी को सराहा भी गया है। उनकी प्रतिभा की सबसे मुखर अभिव्यक्ति निबन्ध विधा, तत्रापि व्यंग्यनिबन्धों के रूप में हुई है। वैचारिक गुरुता, समग्र चिन्तन और मन्तव्य प्रतिपादन के लिए सबसे सशक्त माध्यम निबन्ध होते हैं। व्यंग्य के लिए निबन्ध विधा इसी कारण अधिक उपयुक्त और बहुप्रयुक्त रही है।

बचपन की छोटी–छोटी स्मृतियां पूंजीभूत होकर प्रेरणा का रूप ले लेती है। संस्कार इसी प्रेरणा का स्थायी रूप होते हैं। अबोध बचपन से लेकर सुबोध यौवन और प्रबुद्ध वार्धक्य तक संस्कार बनते रहते हैं और तदनुकूल रचना कर प्रेरणा पैदा करते हैं। इन्ही संस्कारों की आधारशिला पर जीवन का महल खड़ा होता है। डॉ0 पाटिल अपनी व्यंग्य प्रेरणा के विषय में बताते हैं कि पिता जी की तानेबाजी और मां की गंभीरता ने उन्हें इस रास्ते पर धकेला। विडम्बना यही रही कि समाज के ताने सहने के लिए उन्हें अकेला छोड़ वे दोनों जल्द ही चल बसे। डॉ0 पाटिल लिखते हैं, ''पिताश्री आशीर्वाद देते थे कि तू सारी उम्र गधा ही रहेगा।'' शायद उसी का प्रभाव था कि नतग्रीव होकर पिटते रहना आदत बन गई थी। बड़े लोग इसी को सहनशीलता कहते हैं। जब–जब जरूरत से ज्यादा लाद दिया जाता तो दुलत्ती झाड़ने की तबीयत करती । आगे चलकर यहीं दुलत्ती व्यंग्य बनी। मराठी के भाषिक विनोद ने इसे हवा दी। कदम–कदम पर सामाजिक अवमानना ने इसे खूब सींचा। सामाजिक अवरोधों ने उन पर हंसने की प्रवृत्ति दी। अपनी निस्पृहता ने विद्रोह करने की शक्ति दी।[13]

10 मई 1992 को सिरसा में सम्पन्न हुए प्रगतिशील लेखक संघ के साहित्यिक आयोजन में 'व्यंग्य की रचना प्रक्रिया' पर बोलते हुए उन्होने कहा है कि ''हमेशा से ही लगा कि कम बोलना बेहतर है। यह मेरी प्रकृति के अनुकूल लगा। सोचता यहीं हूँ कि करना ज्यादा अच्छा है। कम बोलने से, सोचा था कि लोग पंडित मानेंगे, पर उन्होंने बुद्धू मानना शुरू कर दिया। आज करने से बोलना ज्यादा महत्वपूर्ण है। लोग जुबान से जहान जीत रहे हैं। न कर पाने की विवशता में से मेरे लिए लेखन का रास्ता निकल आया है। कोशिश रहती है कि सोचने, बोलने, करने, लिखने में तादात्म्य हो।''

प्यार और रोजगार जैसे गम डॉ0 पाटिल के लिए एक अनभूली दास्तान बन गए। शुरुआती दौर में इन दोनों तत्वों ने इनकी जिन्दगी में काफी उथल–पुथल मचाई। नौकरी हासिल करने के लिए इन्हें लगभग 5–7 साल तक लड़ाई लड़नी पड़ी और प्यार की जंग जीतने के लिए लगभग इतने ही साल लग गए। इनके जीवन में कभी कोई चमत्कार नहीं हुआ कि सब कुछ एक मुश्त मिल जाए। जो मिला सो किस्तों में और तरस–तरस कर। संघर्ष और अभाव जहां सामान्य जनों को तोड़ देते हैं वहां विशेष चेतना सम्पन्न लोगों का परिमार्जन करते हैं। डॉ0 पाटिल के जीवन संघर्षों की अभिव्यक्ति व्यंग्य के रूप में मुखरित हुई।

स्थितियों की विसंगतियां जहां सामान्य जनों को असमंजस और द्वन्द्व में ही उलझाये रखती है, वहीं बुद्धिमान लोग किसी नये रास्ते की तलाश करते हैं। वे सीमाओं, विवशताओं, उलझनों का यूं कहें कि अराजकता में पगडंडी ढूंढने की कोशिश करते हैं। आज स्थितियां विसंगतिपूर्ण हैं। लोगों की करनी–कथनी में अन्तर है। डॉ0 पाटिल लिखते है, ''एक कप चाय न पचा सकने वाले कवियों को देशभक्तपूर्ण गीत गाते सुनता हूं तो भीतर से गुस्से का गुबार उठता है। चरित्र और चित्रण की यह विसंगति लिखने के लिए बाध्य करती है।[14]

व्यंग्य लेखन का दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण जागरूक पाठक–वर्ग की मानसिकता में आमूल–चूल परिवर्तन होना है। धार्मिक व्याख्यानों की परंपरागत प्रणाली उसे आंदोलित करने में असमर्थ है। सदियों से दोहराये जा रहे उपदेशकों के भारी–भरकम शब्द अपना अर्थ खो चुके हैं, तथा आधुनिक मानवीय चेतना पर निरर्थक बोझ की तरह लदे हुए हैं। कथित आदिवासियों की लच्छेदार प्रवचनशैली, चेतना में हलचल उत्पन्न करने में अक्षम है। क्योंकि जनता में उन वक्ताओं को सदैव अपनी कथनी के विपरीत आचरण करते देखा है। आधुनिक युग की भ्रष्ट राजनीति के जन मानस का विश्वास खंडित कर दिया है। उसे अब पाखंड के उद्घाटन, ध्वंस तथा नवीन सृजन और नूतन जीवन के संदेश सुनने की विकल प्रतीक्षा है। अतः इस युग का पाठक, व्यंग्य की तीखी और तल्स भाषा से ही सम्प्रेषित हो सकता है। व्यंग्यकार कटु सत्य का उद्घाटन करता है इसलिए कि व्यंग्यकार का काम समाज–सुधार का डंका बजाना नहीं है, समाज के विभिन्न क्षेत्रों में फैली संडाध को सुधी पाठक के सामने कर देना है, वह अपने मन में विकृतियों के सामने खड़े होने का मानसिक साहस पा सके।''[15]

वस्तुतः आज का पाठक, निर्णायक की भूमिका में स्वयं होना चाहता है। उसने भविष्य–निर्माताओं और भाग्य–विधाताओं को घिनौनी वास्तविकता पहचान सी है। अब इतना ही पर्याप्त है कि परिवेशगत विसंगतियों, वेचारिक धरातल पर साकार हो जाए, तब वह स्वयं निर्णय ले उन्हें नष्ट करने हेतु सक्रिय हो सकेगा। पाठक की उक्त मानसिकता और व्यंग्यकार के उद्देश्य में प्रत्यक्ष संबंध है। हरिशंकर परसाई अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि, ''मैं सुधार के लिए नहीं, बदलाव के लिए लिखना चाहता हूं। यानि कोशिश करता हूं चेतना में हलचल हो जाए, कोई विसंगति नजर के सामने आ जाए, इतना काफी है।[16]

अपने समय एवं समाज की जो विद्रूप और विसंगत सच्चाइयां हैं, वे चेतना को झकझोरती हैं। ये सब भीतर–भीतर रिस–रिस कर चेतना को करूणा से सिक्त करती रहती है। बाहर के झंझावत भीतर तक आलोड़ित–विलोड़ित करते हैं। इन स्थितियों से लेखक चिंतित होते हैं। उनका

चिन्तन चक्र अनवरत घूमता रहता है। डॉ0 पाटिल की व्यंग्य रचनाएं मानस पटल पर बनने वाले उन्हीं बिम्बों को रूप–आकार देने का प्रयत्न हैं। वे लिखते हैं, ''मानवीय मूल्यों को भ्रष्ट करने वाली शक्तियां राजनीतिक, धार्मिक एवं व्यापारिक हैं। इनके प्रति आक्रोश खौलता रहता है। इनका पर्दाफाश करने के उद्देश्य से जो लिखा जाता है वह व्यंग्य बन जाता है।[17]

चेतना और विधा दोनों स्तरों पर व्यंग्य की व्याप्ति का मुख्य कारण बढ़ती हुई विसंगतियां ही है। आज धर्म, राजनीतिक, व्यापार सभी क्षेत्रों में व्यापक रूप में और तेजी से दुहरापन आया है। राजनीतिक दोगलापन, धार्मिक पाखण्ड, दुहरे चरित्र वाले लोग डॉ0 पाटिल जैसे व्यक्ति और स्थिति तक जाकर देखने, परखने वाले लोगों की चेतना को झकझोरते हैं। डॉ0 पाटिल 'व्यंग्य की रचना–प्रक्रिया' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं – ''सत्यमेव जयते'' वाला समाज अनन्त असीम झूठ का पारावर है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' वाला समाज परमघोर फलासक्तों का समूह हो गया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' वालों का समाज नितांत स्वार्थी लोगों की कॉलोनी हो गया है। 'धर्मम् चर' कहने वालों का समाज वोटों और नोटों का विशाल चरागाह बन गया है। राजनीतिक तम्बुओं पर अपने–अपने धर्म का ध्वज शान से फहरा रहा है। ऐसी अराजकता में, ऐसे असंगत पाटों में पिसते हुए, ऐसे तूफानी झोंकों के बीच रहते हुए आप प्रेम और सौंदर्य के गीत नहीं गा सकते बल्कि आप पूरी ताकत से चीखेंगे। यहीं चीख आज के व्यंग्य लेखन में सुनाई देती है।[18]

अपने अध्यापन–कर्म से डॉ0 पाटिल व्यंग्य की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। वे अपनी रचना प्रक्रिया में लिखते हैं, ''लिखने की एक प्रेरणा अध्यापन धर्म भी रही। अध्यापक धर्म के कारण नजर हमेशा गलतियों पर पड़ती है। इसे निराशावादी नजरिया कहा जा सकता है। यह उत्तेजित करता है लिखने के लिए। लगता है इस निराशा और दुराग्रह में अपना मनचाहा आदर्श छिपा हुआ है कि ये सब कर पाते, सही कर पाते, अच्छा कर पाते। गलत, बुरे और झूठे के प्रति एक आक्रोश मन में निरन्तर उबलता, उफनता रहता है। यह द्वन्द्व चेतना में सतत् उथल–पुथल मचाये रहता है। यही कलम उठाने पर मजबूर करता है।''

जागरुक पाठक–वर्ग जब व्यंग्य के नश्तर से विद्रूप का उद्घाटन देखता है, एवं तज्जनित पीड़ा से साक्षात्कार करता है, तब अनुभव होता है कि उसकी व्यथा के सहभागी अन्य भी है। यह उसके अकेलेपन को दोहरा झटका है तथा पुनः मानव मूल्यों के प्रति आस्था जागती है जो उसे वैचारिक धरातल पर सक्रिय बनाती है।

व्यंग्य मनोवैज्ञानिक संदर्भ में यह प्रश्न भी विचारणीय है कि सत्यान्वेषण की प्रक्रिया में व्यंग्य जिन व्यक्तियों के मुखोटे उतार लेता है, उन पर क्या प्रतिक्रिया होती है।

मैंने एक जगह पढ़ा था कि मानव नियतिवादी होता है क्योंकि वह अपनी सीमाएँ, विवशताएँ समझकर जिन्दगी की हर मुसीबत को अपना भाग्य मान लेता है। इसके सिवाय उसके पास कोई चारा भी नहीं होता। उसका हर प्रयास रोटी से शुरु होकर रोटी पर खत्म हो जाता है। इसके अलावा उनके लिए हर विषय बेकाम की चीज है। लेकिन आज सभ्यता के नाम पर जो औपचारिकताएँ हो रही हैं, शिष्टता के नाम पर जो ढोंग सजाए जा रहे हैं, राजनीति और धर्म एक दूसरे में घुसने की अनधिकार चेष्टाएँ कर रहे हैं ये निश्चय ही विरोध के विषय है। डॉ. पाटिल के व्यंग्य लेखन के प्रेरणा स्त्रोत उपर्युक्त विषय भी रहे हैं। इन्होंने रचना प्रक्रिया सम्बंधी निबंध में

लिखा है, ''सभ्यता के नाम पर जो औपचारिकताएँ बरती जाती है, शिष्टता के नाम पर जो दिखावा सजाया जाता हैं, इस सतत तोड़ते और मोड़ते रहने में ही व्यंग्य काम आता है। पाखण्डी आचरण के प्रति घृणा उपजती है, वहीं वह व्यंग्य बनती है। सन्त क्रोध को वश में करने की बात कह गये हैं। पर आज के जहर की दवाई यह क्रोध का जहर ही है – विषस्य विषमौषधम्। यही क्रोध वह सान है जो लेखन को धार देता है, पाखण्डियों को धार पर धरता है। भाषा का घनीभूत रुप असर करता है– मंत्र हो या गालियाँ। राजनीति और धर्म के जो ताऊ है, वह सबसे बड़े भकाऊ है। यह व्यंग्य का लक्ष्य होते हैं। पर जानते हुए भी कि इन कागजी तीरों का इन मोटी खाल वालों पर कोई असर नहीं होगा, हम भी मजबूर हैं अपने व्यंग्य के हाथों और वे भी बाज नहीं आते अपनी आदतों से अतः एक अविराम शीत युद्ध छिड़ा रहता है व्यवस्था और व्यंग्य में।''[19]

मनोविश्लेषण के परिणाम उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं कि व्यक्ति सार्वजनिक रूप से अपमानित होना सहन नहीं कर सकता। व्यक्ति सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित होने का आकांक्षी है। अतः वह तिरस्कृत होने से भयभीत रहता है। ''शर्म की अनुभूति की पृष्ठभूमि में घृणित होने का भय नहीं अपितु अपमानित होने का भय होता है, जो कि अवचेतन के गहरे स्तर तक स्थित रहता है।[20]

जब किसी व्यक्ति या समुदाय की विसंगतियों को कलात्मक रूप से उभारा जाता है, तब वे अपमान की अनुभूति की प्रतिक्रिया–स्वरूप स्वयं की विकृतियों को नष्ट करने हेतु प्रयासरत हो सकते हैं। इस सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता कि व्यक्ति व्यंग्य का लक्ष्य बनने के भय मात्र से ही पूर्व में ही अपने आचरण में नैतिक परिवर्तन कर ले। यद्यपि उक्त संभावित प्रतिक्रियाएं व्यक्ति सापेक्ष है तथापि व्यंग्य की मनोवैज्ञानिक महत्ता, निस्संदेह है और न ही यह महत्ता क्षणिक है। चूंकि व्यंग्य का प्रभाव मात्र मनोभाव की परत तक न रहकर बौद्धिक एवं वैचारिक पृष्ठभूमि को भी स्पर्श करता है और व्यंग्य का प्रभाव मन और मस्तिक, दोनों पर स्थापित होता है।

डॉ. पाटिल ने अपनी व्यंग्य की स्थिति और गति लिए दुष्यंत कुमार का यह शेर उद्धृत किया है और बहुधा किया है। यह उनकी प्रिय पंक्तियाँ है–

''तमाम उम्र हमने अकेले सफर किया, हम पर किसी खुदा की इनायत नहीं रही। हिम्मत से सच कहो तो बुरा मानते हैं लोग, रो रो के बात कहने की आदत नहीं रही।''

संदर्भ सूची :

1. केशवचन्द्र वर्मा धर्मयुग : 6 मार्च 1969, पृ. 61
2. जे. एफ. ब्राउन : द साइकोलॉजीनॉमिक ऑफ रब्बॉमिल बिहेवियर, पृ. 162
3. हरिशंकर परसाई : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 2 अप्रैल, 1967, अंक 27
4. गोपाल प्रसाद व्यास : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 2 अप्रैल, 1967
5. मधुसूदन पाटिल : एक व्यंग्य यात्रा, पृ. 39
6. Juvenal's concept : viciousness and corruption dominate Human life that for an honest man, it is difficult not to write satire." एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटिनिका : वाल्यूम : 16, 15 एडीशन, पृ. 269
7. स्वान्त्रयोत्तर हिन्दी कविता में व्यंग्य, डॉ शेरजंग गर्ग, पृ. 41

8. कबीर ग्रन्थावली, डॉ श्यामसुन्दर दास, साखी, पृ. 36
9. डॉ. शेरजंग गर्ग, स्वान्त्रयोत्तर हिन्दी कविता में व्यंग्य, पृ. 45
10. उर्वशी : एक अध्ययन, मधुसूदन पाटिल, 1969
11. मधुसूदन पाटिल, निबंध और निबंध, 1987
12. मधुसूदन पाटिल, स्वान्त्रयोतर हिन्दी कहानी में बिम्ब विधान – 1983
13. पाटिल व्यंग्य की रचना प्रक्रिया, पृ 2
14. कन्हैयालाल नन्दन, श्रेष्ठ व्यंग्य कथाएं, पृ. 8
15. कैफियत, सदाचार का ताबीज, पृ. 11
16. मधुसूदन पाटिल, व्यंग्य की रचना प्रक्रिया, पृ. 2
17. वही, पृ. 3
18. वही, पृ. 3
19. वही, पृ. 3
20. गेरहर्ड पियर्स, रोम एण्ड गिफ्ट, पृ. 16